दलित साहित्य की वैचारिकी के निर्माण में हिन्दी साहित्यिक पत्रिकाओं की भूमिका

- तुलसी छेत्री
- डॉ. भँवर सिंह शक्तावत

शोध सार :

यह आलेख में नब्बे के दशक और उससे पूर्व हिन्दी साहित्यिक पत्रिकाओं द्वारा दलित साहित्य की वैचारिकी के निर्माण में निभाई गई भूमिका पर है। नब्बे के दशक में मराठी दलित साहित्य और राजनीति से प्रेरणा लेते हुए हिन्दी क्षेत्र में दलित रचनाकारों ने अंबेडकर और फूले की विचारधारा को अपनाकर अपनी स्वतंत्र पहचान गढ़नी शुरू की। 'हंस', 'कथादेश', 'वागर्थ', 'अक्षरा', 'नया ज्ञानोदय', 'कथाक्रम' जैसी पत्रिकाओं ने दलित और गैर-दलित साहित्यकारों के बीच बहस, प्रतिवाद और संवाद को मंच दिया। इन बहसों में प्रेमचंद, निराला, गांधी, कांशीराम, मायावती और अंबेडकर के विचारों और दृष्टिकोण पर विमर्श हुआ। जाति बनाम वर्ग, दलित बनाम सवर्ण लेखन, भाषा की शुद्धता , सहानुभूति एवं स्वानुभूति और साहित्य के जातिकरण जैसे मुद्दे केंद्र में रहे। दलित आलोचकों ने सवर्ण साहित्यिक परंपरा का पुनर्पाठ कर उसके अंतर्विरोध उजागर किए, वहीं गैर-दलित आलोचकों ने दलित साहित्य की संकीर्णता और भाषा पर सवाल उठाए। अंततः पत्रिकाओं ने दलित विमर्श को व्यापक बौद्धिक संवाद में बदला, जिससे दलित चेतना और साहित्यिक अस्मिता का विकास हुआ।

बीज शब्द: दलित साहित्य, परंपरा का पुनर्पाठ, सहानुभूति और स्वानुभूति, दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र

नब्बे के दशक से पूर्व ही हिन्दी में दलित रचनाकार अंबेडकर, फूले की सांस्कृतिक विरासत के साथ अपनी साहित्यिक पहचान को जोड़ने लगे थे। वहीं मराठी दलित साहित्य इस समय तक एक लंबे वैचारिक संघर्ष के बाद अपनी एक अलग पहचान निर्मित कर चुका था। यह स्वाभाविक ही था की हिन्दी पट्टी के दलित रचनाकार इससे प्रभावित होते। वहाँ दलित पैंथर और कलापथक जैसे वैचारिक सांस्कृतिक संगठन थे एवं साथ में अंबेडकर और ज्योतिबा फुले की कर्मभूमि होने के कारण उनकी विरासत भी। मराठी में दलित साहित्य के सबसे पहले आने का एक कारण यह भी था। मराठी दलित साहित्य और दलित राजनीति ने भारतीय भाषाओं के अन्य दलित रचनाकारों को प्रभावित किया। हिन्दी क्षेत्र में भी साहित्य के

साथ-साथ राजनीति में भी अब परिवर्तन आते हैं। मुख्यधारा की पार्टियों से इतर वे अब दलित पहचान की राजनीति के साथ लामबंद होने लगते हैं। अर्थात वे अब बड़ी पार्टियों का सिर्फ वोट बैंक बने रहना नकारना शुरू करते हैं। दरअसल, आजादी के बाद उनका राजनीतिक संबंध कांग्रेस पार्टी के साथ था तो वहीं साहित्यिक संबंध मार्क्सवादी प्रगतिशील विचारधारा के साथ। यह संबंध अब वह टूटता है। वे राजनीति में जहाँ कांशीराम की ओर झुकते हैं तो साहित्य में अपनी नई पहचान गढ़ने की कोशिश करते है।

'हंस' पत्रिका के 1994 के जुलाई अंक में राजकिशोर का लेख प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने कांग्रेस या भाजपा द्वारा दलितों के प्रति सहानुभूति को बलि के बकरे के पालन पोषण जैसा बताया, वे लिखते हैं- "क्योंकि दलितों के पास जाने के लिए कौन सी जगह है? उनके पास कौन सा नेतृत्व है? उन्होंने कांग्रेस पर भरोसा किया, लेकिन कांग्रेस ने उनके साथ विश्वासघात किया जैसे अन्य वंचित वर्ग के साथ, उन्होंने जनता पार्टी-जनता दल पर विश्वास किया, किन्तु पाया की यह लोग सिर्फ राजनीति सत्ता हासिल करने के लिए दलितों का साथ चाहते हैं- बाद में दलितों से उनके रिश्ते घोड़े और घास के ही रहते हैं, भाजपा दलितों से प्रेम जरूर दिखाती हैं लेकिन वैसे ही जैसे बलि के बकरे को पाला-पोसा जाता है। कांशीराम और मायावती ही हैं जो दलितों के पक्ष में बोलते हैं और दहाड़कर बोलते हैं। सो उनके प्रति दलित का प्रेम स्वाभाविक रूप से उमड़ता है।"[1] इसके समानांतर प्रगतिशील लेखक अम्बेडकर को दलितों का मसीहा तो मानते हैं लेकिन इस बात से वो सहमत नहीं की कांशीराम या मायावती दलितों के हितकर हैं। उनका मानना है की वे केवल राजनीति की नए सिरे से व्याख्या कर रहे हैं। जैसे दलित साहित्यकार इतिहास दृष्टि में नए तरीके से देख रहा है, जिस तरह से एक अच्छे मार्क्सवादी साहित्य की खूबी होती है की वह एक स्तर गैर मार्क्सवादी भी हो, उसी तरह अच्छा अम्बेडकरवादी लेखक वह है जो एक स्तर पर गैर - अम्बेडकरवादी हो। राजकिशोर के उपरोक्त सन्दर्भ के प्रत्युत्तर में अभय कुमार दुबे लिखते हैं की - "कांशीराम और मायावती, आंबेडकर के कोई श्रेष्ठ अनुयायी नहीं हैं। उनकी अभिव्यक्ति साफ़-सुथरी नहीं हैं, लेकिन उनके कथनों पर सवर्ण समाज की प्रतिक्रिया देखकर यह नहीं मान लेना चाहिए की अगर वे संयम स्वर में बोलते तो प्रतिक्रिया तीखी न होती।"[2] दलित अब तक की प्रेमचंद, निराला की प्रगतिशील परंपरा से अपने को अलगाते हैं और अपनी नई परंपरा गढ़ते हैं जो फूले, अंबेडकर से जुड़ती है। हालांकि अम्बेडकर ने धर्मांतरण करके दलितों को प्रारब्धवाद से छुटकारा दिलाने में ऐतिहासिक भूमिका अदा की। उन्होंने बुद्ध धर्म को पेचकस की तरह इस्तेमाल किया जिससे अनगिनत दलितों ने अपनी चेतना से कर्मबंधन की

जमी हुई परत को साफ़ किया। प्रेमचंद के यहाँ डॉ. अम्बेडकर का समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व का वैचारिक आन्दोलन न पाकर दलित आलोचक अपने विचार बनाते है।

डॉ.रामचंद्र 'कथादेश' जून 2006 में प्रकाशित अपने आलेख 'दलित प्रश्न और प्रेमचंद में प्रसिद्ध लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि को उदधृत करते हुए लिखते हैं - "ओमप्रकाश वाल्मीकि ने 'ठाकुर का कुआं'(1932) और 'दूध का दाम'(1934) नामक कहानियों की अंतर्वस्तु पर बाबा साहब के महाड आन्दोलन तथा कालाराम मंदिर आन्दोलन की वैचारिक छाप को स्वीकार किया ....वहीं 'कफ़न' कहानी को दलित चेतना की कहानी कहे जाने पर इसका तीव्र रूप से विरोध किया।"[3]

यह स्वाभाविक ही था की इसकी प्रतिक्रिया ज्यादातर तो प्रगतिशील धारा के भीतर से होती है। 'दलित साहित्य' के मूल आधार और साहित्य के वर्गीकरण पर प्रश्न चिन्ह लगाया जाता हैं। साहित्य को विशेष नाम और विशेष वर्ग तक सीमित करने पर आक्रोश जताया जाता है। साहित्य में दलित चेतना और दलित लेखन को लेखिका शशिकला राय काल विशेष की मांग और प्रमुख प्रवृत्ति तो स्वीकार करती है मगर इसे दलित लेखकों द्वारा लिखा गया दलित साहित्य कहे जाने की आलोचना करती हैं। वाल्मीकि जी के विचारों पर सीधा प्रहार करते हुए 'अक्षरा' के मई-जून 2001 अंक में अपने आलेख 'साहित्य में आरक्षण' में लिखती हैं -"साहित्य में जिस एकांगी दृष्टिकोण के विरोध में आप खड़े हैं, उस विरोध की जमीन भी एकांगी हैं । जहाँ पूर्णता नहीं वहाँ साहित्य नहीं। प्रतिभा को कोई हाशिये पर नहीं फेंक सकता बशर्ते आप प्रतिभा के बल पर ही प्रतिष्ठित होना चाहते हैं ।"[4]

1996 में देहरादून में आयोजित 'परिवेश सम्मान समारोह' जो सुप्रसिद्ध दलित रचनाकार ओमप्रकाश वाल्मीकि को प्रदान किया गया यहाँ प्रगतिशीलों और दलित रचनाकारों के बीच के अंतर्विरोध साफ तौर पर प्रकट होते हैं। इसकी रपट हंस के जुलाई 1996 अंक में प्रकाशित हुई। परिचर्चा में प्रसिद्ध कथाकार और आलोचक काशीनाथ सिंह अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में दलित-साहित्य को इतिहास के उस साहित्यिक पक्ष से जोड़कर देखने का आह्वान करते हैं, जिसमें संत परंपरा के साथ दलित चिंतन शुरू होता है, उन्होंने हंस पत्रिका के संपादक राजेंद्र यादव की चर्चा करते हुए कहा की- "वह अपने संपादकीय वक्तव्यों द्वारा दलित रचनाकारों के मस्तिष्क में संकीर्णता भर रहे हैं, जो एक षड़यंत्र हैं ।"[5]

प्रतिउत्तर में ओमप्रकाश वाल्मीकि ने बुद्धिजीवियों आलोचकों, साहित्यकारों पर आरोप लगाए की "जो दलित साहित्य को एक विशेषण के रूप में मानते है या प्रगतिशील लेखन का

हिस्सा मानते हैं और हिन्दी साहित्य के उत्पीड़ितों, शोषितों, दलितों की अभिव्यक्ति को नजरंदाज कर रहे हैं ।"[6]

दलित साहित्य पर लगे आरोपों का खंडन दलित आलोचकों द्वारा किया गया। इन की बहस प्रगतिशील आलोचकों से होने लगी, वर्ण और वर्ग के प्रश्न पर दलित आलोचना, प्रगतिशील आलोचना को कटघरे में खड़ा करती है, उन्हें ये कतई मंजूर नहीं की उनकी अगुवाई करते डॉ.अंबेडकर को राजनीति से जोड़ कर देखा जाये। यहाँ दलित आलोचक गांधी को केवल दलितों के प्रति सहानुभूति का ढोंग करने वाला दिखा रहे थे जिनका मकसद केवल राजनीति में पैठ बनाना था। सवर्णों द्वारा लिखे दलित साहित्य को यह कहकर नाकारा गया की दलित पीड़ा को केवल दलित ही समझ सकता है। यही कारण है की दलित आलोचना में संपूर्ण हिन्दी साहित्य की समग्र तस्वीर नहीं बनती। जिसका एक भाग दलित साहित्य है। वे स्थापित करते हैं की उनका सम्बन्ध केवल दलित साहित्य से है। दलित साहित्यकार हिन्दी साहित्य और हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के मुखर आलोचक हैं । जब हिन्दी आलोचना में वर्ग -संघर्ष एवं वर्ग चेतना की चर्चा मार्क्सवादी प्रभाव के कारण जोरों पर थी, तब भी दलित चेतना उसके केंद्र में थी। उस दौर में डॉ.रामविलास शर्मा, डॉ.नामवर सिंह जैसे मार्क्सवादी आलोचक वाल्मीकि, तुलसी, प्रेमचंद, निराला आदि के साहित्य को दलित,पीड़ित, शोषित का पक्षधर बता चुके थे। परन्तु वर्ग एवं जाति विरोधी चेतना का इस्तेमाल समाज में आमूल परिवर्तन लाने से अधिक संसदीय राजनीति के सन्दर्भ में वोट हथियाने के औजार के रूप होने लगा तब से 'दलित-विमर्श' ने तुलसी, प्रेमचंद, निराला को दलित का पक्षधर मानने से इंकार कर दिया क्योंकि वे सब जन्मने दलित नहीं थे।

तीसरा पक्ष,(त्रैमासिक पत्रिका) अंक 14-15 अप्रैल-सितम्बर 2004 में दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि का लेख था, 'प्रेमचंद: संदर्भ दलित-विमर्श, जिसमें प्रेमचंद और गाँधी पर ढेरों सवाल उठाये गए। गाँधी और गांधीवाद का संदर्भ लेते हुए प्रेमचंद की संवेदना, उनकी प्रतिबद्धता पर भी प्रश्न उठाये। 'साहित्य अमृत' पत्रिका जिसे पत्रिका जगत में परंपरागत साहित्यिक पत्रिका का दर्जा प्राप्त था वो भी इस बहस से अछूती नहीं रह सकी। कमल किशोर गोयनका ने अपने लेख में डॉ.आंबेडकर के बाद आई ऐसी पीढ़ी का जिक्र किया "जिसने दलित चिंतन की तुलना में गाँधी और उनके साहित्यिक अनुयायी प्रेमचंद की दलित-दृष्टि की कटु आलोचना को दलित चिंतन का अंग बनाकर प्रस्तुत किया।"[7]

2004 में 'वागर्थ' पत्रिका में आशुतोष पार्थेश्वर ने निराला की राम की शक्ति पूजा पर सवाल किया - "मैं आपको चुनौती देता हूँ। साबित कीजिये कि राम की शक्ति-पूजा में या

समूचे निराला में कहीं भी सामंतवादी मूल्यों का पोषण हुआ है?"[8] उसके जवाब में कवँल भारती ने 'कथाक्रम' पत्रिका में 'राम की शक्ति पूजा का दलित पाठ' नाम से लेख प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने निराला की कविता 'राम की शक्ति-पूजा' पर शुद्ध सामंतवादी होने का दावा किया। जिसके तर्क में वो कविता की भाषा से शुरू करते हैं की उनकी इस कविता की भाषा आमजन की भाषा नहीं है। भाषा से ही विचार निर्मित होते हैं इस आधार पर स्वयं निराला के संस्कार सामंती हैं। जो भाषा जनसाधारण की समझ से परे हो वो सामन्ती मूल्यों का रूप है- "किसी भी सामन्ती भाषा के कवि के जनवादी विचार नहीं हो सकते।"[9]

राम ने शम्बूक की हत्या की मात्र इसलिए की क्योंकि ब्राह्मण का बेटा अकाल मृत्यु को प्राप्त हो गया जिसका कारण शूद्र द्वारा किया गया तप, अर्थात राम स्वयं भी उसी वर्णव्यवस्था के पोषक हैं। जिसमें ब्राह्मण को सर्वोच्च कुल का बताया गया है, दलित चिन्तक इस का पुनर्पाठ इसी तरह से करेगा। ब्राह्मणों के लिए इस कविता में बहुत कुछ है जो उन्हें तर्कसंगत लगे मगर दलितों के लिए इस कविता में कुछ नहीं। सवर्ण, दलित चिंतन का द्विज समझना नहीं चाहता क्योंकि वो सामंती मूल्य से भरा है। इस तरह से अब कोई भी साहित्य आलोचना से परे नहीं है दलित आलोचक संपूर्ण परंपरा की पुनर्व्याख्या कर रहे हैं।

यदि दलित वैचारिकी के दृष्टिकोण को देखा जाये तो प्रतीत होता है की साहित्य के इतिहास में दीर्घ काल तक एक बड़े समुदाय का जिक्र तक नहीं था यदा कदा उसे दर्शाया भी गया तो हीन भावना से या उपेक्षा भाव के लिए जो पूर्वाग्रह से ग्रस्त था । यही कारण था की हिन्दी साहित्य में एक नए दृष्टिकोण की जरूरत महसूस हुई।

दलित साहित्य की उपज जाति व वर्ण व्यवस्था है क्योंकि इस व्यवस्था में जन्म से ही मनुष्य की पहचान निर्धारित की गई है। यही कारण है की दलित साहित्यकार इस व्यवस्था का विरोध करते है। चूँकि साहित्य को समाज का दर्पण कहा गया है, साहित्य को संपूर्ण समाज के लिए हितकर होना चाहिए इसलिए दलित साहित्य आन्दोलन मूलतः इसी से निर्मित मनुष्यता को स्थापित करने की ओर अग्रसर है। नब्बे के दशक की साहित्यिक पत्रिकाओं ने हिन्दी साहित्य में दलित साहित्य को लेकर दलित और गैर दलित दोनों वर्गों के बुद्धिजीवियों के मध्य विचारोतेजक चिंतन को जगह दी और संवाद को आगे बढ़ाया।

श्री भगवान सिंह ने 'वागर्थ' पत्रिका के जून 2004 अंक में दलित चेतना को जाति विशेष तक सीमित कर देना न प्राचीनता की दृष्टि से उचित ठहराया "न आधुनिकता की

दृष्टि से, अत्याचार, दमन, दलन का जो भी शिकार हो , चाहे वो पुरुष हो या स्त्री, सवर्ण हो या अवर्ण, उसका दुःख-दर्द दलित चेतना का हिस्सा है।"[11]

इसके प्रत्युत्तर में कवँल भारती ने अपने लेख "परंपरा का मूल्यांकन चाहता है दलित साहित्य' में लिखा की "बात वे ठीक कहते हैं पर प्राचीनता की दृष्टि से बात गले नहीं उतरती, कौन से प्राचीन साहित्य में-रामायण, महाभारत, पुराण, वेद, उपनिषद आदि में चेतना के दर्शन होते हैं ? यह सोदाहरण बताने की जरूरत थी कि इनमें से किसी ग्रंथ में वर्ण - व्यवस्था का खण्डन किया गया है, और उससे पीड़ित लोगों के पक्ष में प्रतिरोध का स्वर है?"[12]

दलित विमर्श की वर्तमान स्थिति को यदि राजनीति, सामाजिक या साहित्यिक स्तर पर देखें तो ज्ञात होता है की दलित वर्ग अपनी जो माँग रख रहा है (सत्ता में हिस्सेदारी या अन्य विकास योजनाओं में विशेषाधिकार) इसके लिए वो अपनी जाति को आधार बनाता है। भारतीय जाति व्यवस्था के मूल में जहाँ एक तरफ शोषण की राजनीति तथा रणनीति थी वहीं दूसरी तरफ आधुनिक काल में हिंदू समाज की जाति- व्यवस्था की खोखली सामाजिक संरचना थी जिसकी सच्चाई दलित लेखकों ने ससबूत अपने साहित्य के केंद्र में दर्ज की। जिसके तर्क में सवर्ण लेखक कहते हैं की साहित्य का जातिकरण हो रहा है। 'नया ज्ञानोदय' पत्रिका में जून 2005 के अंक में 'पंचायत' शीर्षक से चर्चा हुई जिसका उद्देश्य दलित-विमर्श के वर्तमान पहलुओं पर विचार करने हेतु - तुलसी राम, कृष्ण दत्त पालीवाल,अनामिका, सूरज पाल सिंह, श्यौराज सिंह बेचैन को आमंत्रित किया गया जिसका समन्वय उमाशंकर चौधरी ने किया। इस पर चर्चा करते हुए वो लिखते हैं - "उनके इस विचार पर की दलित विमर्श के भीतर एक ऐसा भी चिंतन है, जो जाति के विनाश की नहीं बल्कि मजबूती की बात करता है, जाति दया के बल पर नहीं बल्कि मजबूती के बल पर ही टूट सकती है। जब दलित और ब्राह्मण एक बराबर होंगे, तभी यह जाति- व्यवस्था टूटेगी हालाँकि यह तर्क डॉ. अंबेडकर के मूलदर्शन के विपरीत बैठता है, इस विचार के साथ श्यौराज सिंह बेचैन अपने विचार व्यक्त करते हैं कि "ब्राह्मणों ने जब जाति व्यवस्था बनाई और वर्ण व्यवस्था के सबसे ऊँचे पाएदान पर बैठे तो वे क्यों च्यूत होना चाहेंगे।...समानता तभी आयेगी जब आर्थिक के साथ - साथ बौद्धिक स्तर भी समान हो।"[13]

दलित साहित्य की भाषा पर अशिष्ट होने का आरोप लगाया गया। खासकर 'आत्मकथा' में जिस भाषा का प्रयोग हुआ उसे श्री भगवान सिंह "परिष्कार एवं संस्कार" करने की नसीहत देते हैं। कंवल भारती श्री भगवान सिंह को संबोधित करते हुए लिखते हैं की "श्री

भगवान सिंह का हास्यापद आरोप यह भी है कि दलित लेखक को 'भाषा की शुद्धता और शिष्टता' पसंद नहीं हैं। उनके अनुसार वे गाली-गलौच के प्रयोग को स्वानुभूति की स्वाभाविक अभिव्यक्ति की दृष्टि से उचित ठहराते हुए लिखते हैं -"काश वे दलित लेखकों के साहित्य से गाली-गलौच के प्रयोग का उदाहरण भी देते। श्री भगवान सिंह जिस वर्ग - समाज का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं, उसने अपने सात जन्मों में भी दलित सर्वहारा से कभी शिष्टता से बात नहीं की होगी।...अभी तो रिक्शा चलाने वाले, कूड़ा - करकट बीनने वाले और ईंट- भट्टा मजदूर अपना साहित्य लिखेंगे,तब पता चलेगा कि उनके पास तुम्हारी कौन सी भाषा है? तब तुम अपनी परम्परा को लेकर क्या करोगे?"[14]

सं. 2005 के 'कथाक्रम' पत्रिका के अप्रैल-जून अंक में मूलचंद सोनकर ने वर्ण व्यवस्था पर गांधी के 'डबल माइंडेड गेम' की चर्चा की जहाँ उन्होंने स्पष्ट किया की- "गांधी अपने आप को दलितों का एकमात्र नेता व मसीहा कहते थे लेकिन इसके लिए वह अपनी शर्तों से समझौता करने को तैयार नहीं थे। गांधी देश में राम - राज्य की स्थापना के पक्षधर थे जो उनकी लोकतंत्र विरोधी राजशाही प्रवृत्ति का ही द्योतक है।"[15] इस प्रकार मूलचंद सोनकर ने स्पष्ट किया की गांधी की नीतियों का निहित उद्देश्य राजनीतिक हथियार के बल पर वर्ण व्यवस्था की पुनर्स्थापना करना ही था।

पत्रिकाएँ दलित विमर्श में वाद विवाद संवाद का सबसे मजबूत माध्यम बनी। दलितों में साहित्य और लेखन की वजह से जागरूकता आई। प्रश्नों के जरिए उन्होंने सवर्ण वर्चस्ववाद की उलझी हुई सत्ता को चुनौती दी। उनके प्रश्न स्वानुभूति, सहानुभूति, भाषा, जातिवाद, अधिकारों से संबंधित थे। दलित साहित्यकारों ने परंपरागत साहित्य के पुनर्पाठ द्वारा सवर्ण समाज के ऐसे पहलुओं पर चर्चा की जिससे पाठकों का बड़ा वर्ग अनभिज्ञ था। वर्ण व्यवस्था से उपजी पीड़ा को दलितों ने सदियों से झेला यही कारण था कि वे समूची व्यवस्था से बदलाव की मांग कर रहे थी। डॉ. अंबेडकर का वैचारिक आंदोलन, समग्रता में प्रेमचंद के साहित्य में स्वयं को अपूर्ण पाकर उन्हें आलोचना के केंद्र में लाता है,उनका मानना है की दलित की समस्या सीधे-सीधे धार्मिक और सामाजिक समस्या है। प्रेमचंद की रचनाओं में यह बिंदु भ्रम को स्थिति पैदा करता है। दलित आलोचकों का मानना है की प्रेमचंद के साहित्य पर अंबेडकर के साहित्य का नहीं वरन गांधीवाद का अधिक प्रभाव है। 31 जुलाई 2004 को दिल्ली के सोहनपाल सुमनाक्षर के नेतृत्व में 'रंगभूमि' दहन कांड हुआ जिसके तर्क में 'अंबेडकर इन इंडिया' में मुद्राराक्षस का वक्तव्य प्रकाशित हुआ - "हमारे नेता अम्बेडकर ने 25 दिसंबर 1927 को मनुस्मृति जलायी थी। उसके पीछे भी कारण थे। आज

की तारीख में यदि प्रेमचंद जिंदा होते तो आज का दलित उन्हें भी खदेड- खदेड़ कर जलाने से परहेज नहीं करता।"[16]

कथादेश जून 2006 अंक में डॉ. रामचंद्र ने सिक्के का दूसरा पहलू पाठकों के समक्ष रखने का प्रयास किया। वे अपने लेख 'दलित प्रश्न और प्रेमचंद' में दलित लेखक ओमप्रकाश वाल्मीकि के प्रेमचंद सम्बन्धी विचारों को उदधृत करते हैं- "लेकिन तमाम सहमतियों, असहमतियों के बावजूद प्रेमचंद अपने समय के ऐसे रचनाकार हैं जिन्होंने हिन्दी साहित्य में यथार्थ को स्वीकार्य बनाया,पाठकों की रुचि विकसित की। साहित्य को प्रासंगिक बनाया। किसान, मजदूर, दलित को साहित्य का अंग बनाया। प्रेमचंद प्रामाणिक, अनुभवजनित यथार्थ के लेखक हैं। दलित रचनाकार उनकी साहित्य-यात्रा से प्रेरणा लेता है।"[17]

कोई भी नया विचार पहले से स्थापित विचार के साथ द्वन्द्व की स्थिति में होता है। दलित विमर्शकारों ने भी ऐसे ही मिथकों का भंजन किया और परंपरा को पुनर्व्याख्यायित किया। दलित साहित्य को एक 'वाद' के तौर पर स्थापित करने का श्रेय साहित्यिक पत्रिकाओं को जाता है। उन्होंने पक्ष एवं विपक्ष में वाद विवाद और संवाद को बढ़ावा देने में एक लोकतांत्रिक स्पेस का निर्माण किया।

संदर्भ सूची

1. राजकिशोर (जुलाई, 1994),गाँधी जी श्रेष्ठ थे, तो? हंस, पृ.92
2. दुबे, अभयकुमार (जुलाई,1994),गाँधी बनाम आम्बेडकर, हमारी विरासत क्या होगी ?, हंस,पृ.88
3. डॉ.रामचंद्र (जून,2006),दलित प्रश्न और प्रेमचंद ,कथादेश,पृ.63
4. राय, डॉ.शशिकला (मई-जून, 200), साहित्य में आरक्षण, अक्षरा,पृ.53
5. बेचैन, श्योराज सिंह (जुलाई,1996),परिवेश सम्मान के बहाने दलित साहित्य पर बहस, हंस, पृ.75
6. बेचैन, श्योराज सिंह (जुलाई,1996),परिवेश सम्मान के बहाने दलित साहित्य पर बहस, हंस, पृ.75
7. वही,पृ.75
8. गोयनका, कमलकिशोर (अगस्त,2004),स्वामी विवेकानंद का दलित-दर्शन, साहित्य अमृत,पृ.73
9. पार्थेश्वर, आशुतोष (अगस्त, 2004), निराला की राम की शक्ति पूजा, वागर्थ, पृ.98

10. भारती, कँवल (जनवरी-मार्च, 2005),राम की शक्ति-पूजा का दलित पाठ, कथाक्रम, पृ.51
11. सिंह, श्रीभगवान (जून, 2006), दलित साहित्य के अपने प्रतिमान 'वागर्थ', पृ.33
12. भारती, कँवल (जून,2006), परंपरा का मूल्यांकन चाहता है दलित साहित्य, वागर्थ, पृ.43
13. पंचायत (जून,2005), दलित विमर्श: वर्तमान परिदृश्य,नया ज्ञानोदय, पृ.14
14. भारती, कंवल (जून,2004), परंपरा का पुनर्मूल्यांकन चाहता है दलित साहित्य, वागर्थ, पृ.34
15. सोनकर, मूलचंद (अप्रैल-जून,2005), दलित-वैचारिकी में गांधी विरोध कितना अनुसरण कितनी सिद्धांत खोरी, कथाक्रम, पृ. 56/57
16. मुद्राराक्षस (अगस्त,2004),अंबेडकर इन इंडिया, पृ.11
17. डॉ.रामचंद्र (जून, 2006),दलित साहित्य और प्रेमचंद, कथादेश ,पृ.28

तुलसी छेत्री, शोधार्थी,
हिन्दी विभाग,जैन (डीम्ड-टू-बी यूनिवर्सिटी)
Email: tulsi.chhetry@yahoo.com Ph.No. ९६२०५६६६७४
डॉ.भँवर सिंह शक्तावत,
सहायक प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,जैन (डीम्ड-टू-बी यूनिवर्सिटी)